चतुर्थ अध्याय

1- प्रश्नोपषदीय प्राण-विद्या प्राण और रयि ।

2- दिन और रात्रि

3- उत्तरायण और दक्षिणायन

4- शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष

5- पितृयान और देवयान

6- योगदर्शन और प्राण

7- योग के आठ अंगों में प्राण का महत्व ।

=====

चतुर्थ अध्याय

"प्रश्नोपनिषदीय प्राण विद्या, प्राण और रयि । दिन-रात्रि, उत्तरायण दक्षिणायन, शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष, पितृयान-देवयान.

प्रश्नोपनिषद में छः प्रश्न हैं, जो छः ऋषियो की ओर से उठाये गये हैं । इन प्रश्नो में से सबंधी द्वारा पूछे गये प्राण संबंधी प्रश्न के उत्तर में महर्षि पिप्पलाद ने जो उत्तर दिया वह प्राण-विज्ञान पर पर्याप्त प्रकाश डालता है, नीचे प्राण संबंधी सामग्री का उल्लेख किया जा रहा है-

अथ संबंधी कात्यायन उपेत्य प्रपृच्छ, भगवन् कुतो ह वा
इमाः प्रजा प्रजायन्त इति ।"[1]

व्याख्या-

बहुत दिनों तक तपस्या में लगे रहने के पश्चात् सर्वप्रथम कात्यायन ऋषि के प्रपौत्र कबन्धी ने श्रद्धा और विनयपूर्वक पिप्पलाद ऋषि से पूछा भगवन् । जिससे ये सम्पूर्ण चराचर जीव नाना रूपो में उत्पन्न होते हैं, जो इनका सुनिश्चित कारण है । वह कौन है ?

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत
स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते ।।
रयि च प्राण चेत्येतौ मे बहुधा प्रजा करिष्यति इति ।।[2]

व्याख्या-

कबन्धी ऋषि का यह प्रश्न सुनकर महर्षि पिप्पलाद बोले- हे कात्यायन यह बात वेदो में प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण जीवों के स्वामी परमेश्वर को सृष्टि के आदि में जब प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा हुई तो उन्होने संकल्प रूप तप किया।

1-प्रश्नोपनिषदीय-प्रश्नोपदीय प्राण विद्या
2- वही

तब से उन्होंने सर्वप्रथम रयि और प्राण -इन दोनों का एक जोड़ा उत्पन्न किया"। उसे उत्पन्न करने का उद्देश्य यह था कि यह दोनो ।प्राण और रयि। मिलकर मेरे लिए नाना प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करेगें । इस मन्त्र में सबको जीवन प्रदान करने वाली समष्टि जीवनी शक्ति है, उसे ही प्राण" नाम दिया गया है। इस-जीवनी शक्ति से ही प्रकृति के स्थूल स्वरूप में समस्त पदार्थों में जीवन, स्थिति और यथा योग्य सामन्जस्य आता है । स्थूल भूत समुदाय का नाम "रयि" रखा गया, जो प्राण जीवन शक्ति से अनुप्राणित होकर कार्यक्षम होता है । प्राण चेतना है, रयि शक्ति या आकृति है । घनात्मक और ऋणात्मक दो तत्वों की भांति प्राण और रयि के संयोग से ही सृष्टि का समस्त कार्य सम्पन्न होता है । इन्हीं को अन्यत्र अग्नि और सोम एवं पुरुष तथा प्रकृति के नाम से भी कहा गया है-

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेवा चन्द्रमा रयिर्वा ।
एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं तस्मान्मूर्तिरेव रयि ।।[1]

व्याख्या-
------ इस मंत्र में उपर्युक्त प्राण और रयि का स्वरूप समझाया गया है । पिप्लाद कहते हैं कि यह दीखने वाला सम्पूर्ण जगत् प्राण और रयि- इन दोनों तत्वों के संयोग या सम्मिश्रण से बना है, इसलिए यद्यपि इन्हें पृथक् पृथक् करके नहीं बताया जा सकता, तथापि तुम इस प्रकार समझो - यह सूर्य जो हमें प्रत्यक्ष दिखलाई देता है, यही प्राण है, क्योंकि इसी में सबको जीवन प्रदान करने वाली चेतना शक्ति की प्रधानता और अधिकता है । यह सूर्य उस सूक्ष्म जीवनी-शक्ति का घनीभूत स्वरूप है । उसी प्रकार यह चन्द्रमा ही "रयि" है क्योंकि इसमें स्थूल तत्वों को पुष्ट करने वाली भूत तन्मात्राओं की ही अधिकता है । समस्त प्राणियों के स्थूल शरीरों का पोषण इस चन्द्रमा की शक्ति को ही पाकर होता है । हमारे शरीर मे ये दोनों शक्तियाँ प्रत्येक अंग-प्रत्यंग में व्याप्त हैं,, उनमें जीवनी- शक्ति का संबंध सूर्य से है और माँस-भेद आदि स्थूल तत्वों का संबंध चन्द्रमा से है ।

1-प्रश्नोपनिषद

अक्षा दित्य उदयन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति
तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ।
यत्प्रतीचीं यदुदीचीं उद्यो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशोयत्सर्वं
प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ।।[1]

व्याख्यान-

इस मंत्र में सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों में जो जीवनी शक्ति है, उसके साथ सूर्य का संबंध दिखलाया गया है भाव यह है, कि रात्रि के बाद जब सूर्य उदय होकर पूर्वदिशा में अपना प्रकाश फैलाता है, उस समय वहाँ के प्राणियों के प्राणी को अपनी किरणों में धारण करता है अर्थात् उनकी जीवन शक्ति का सूर्य की किरणों से संबंध होकर उसमें नवीन स्फूर्ति आ जाती है । उसी प्रकार प्रकाश फैलाता है, वहाँ वहाँ प्राणियों को स्फूर्ति देता रहता है । अतः सूर्य ही समस्त प्राणियों को प्राण है ।

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते तदेतदृचाभ्युक्तम् ।।[2]

व्याख्या-

प्राणियों के शरीर में जो वैश्वानर नाम से कही जाने वाली जठराग्नि है, जिससे अन्न का पाचन होता है, वह सूर्य का ही अंश है अतः सूर्य ही है तथा जो प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान इन पाँच रूपों में विभक्त प्राण है, वह भी इस उदय होने वाले सूर्य का ही अंश है, अतः सूर्य ही है । यही बात अगली ऋचा द्वारा समझाई गई है -

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं, परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।
सहस्त्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ।।[3]

व्याख्या-

इस सूर्य के तत्व के जानने वालों का कहना है कि यह किरण जाल से मण्डित एवं प्रकाशमय, तपता हुआ सूर्य विश्व के समस्त रूपों का केन्द्र है । सभी

1- प्रश्नोपनिषद्
2- वही
3-वही

रूप रंग और आकृतियाँ सूर्य से उत्पन्न और प्रकाशित होते हैं । यह सविता ही सबका उत्पत्ति स्थान है और यही सबकी जीवनी-ज्योति का मूलस्त्रोत है । यह सर्वज्ञ और सर्वाधार है । वैश्वानर अग्नि और प्राण शक्ति के रूप में में सर्वत्र व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है । समस्त जगत् का प्राण रूप सूर्य एक ही है । इसके समान इस जगत् में दूसरा कोई भी जीवनी-शक्ति नहीं है । यह सहस्त्रों किरणों वाला सूर्य हमारे सैकड़ों प्रकार के व्यवहार सिद्ध करता हुआ उदय होता है । जगत् में ऊष्णता और प्रकाश फैलाना, सबको जीवन प्रदान करना, ऋतुओं का परिवर्तन करना आदि हमारा सैकड़ों प्रकार की आवश्यकता को पूर्ण करता हुआ सम्पूर्ण सृष्टि का जीवनदाता प्राण ही सूर्य के रूप में उदित होता है ।

इस प्रकार यहाँ तक कात्यायन कबन्धी के प्रश्नानुसार संक्षेप में यह बतलाया गया है कि उस सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वर से ही उसके संकल्प द्वारा प्राण और रयि के संयोग से इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति आदि होती है । अब इस प्राण शक्ति और रयि शक्ति के संबंध में परमेश्वर की उपासना का प्रकार और उसका फल बतलाने के लिए दूसरा प्रकरण आरंभ करते हैं-

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च ।
तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृत्मित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते।
त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्येन्ते ।
एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ।।[1]

व्याख्या-
------ इस मन्त्र में संवत्सर को परमात्मा का प्रतीक बताकर उसके रयिस्थानीय भोग्य पदार्थों की उपासना और उसका फल बताते हैं । भाव यह है कि बारह महीनों का यह संवत्सर रूप काल ही मानो सृष्टि के स्वामी परमेश्वर का स्वरूप है । इसके दो अयन हैं- दक्षिण और उत्तर । दक्षिणायन के जो छः महीने हैं- जिनमें सूर्य दक्षिण की ओर घूमता है ये मानों इसके दक्षिण अंग हैं और उत्तरायण के छः महीने ही उत्तर अंग हैं । उनमें उत्तर अंग तो प्राण है अर्थात् इस विश्व के

1-प्रश्नोपनिषद्

आत्मा रूप परमेश्वर का सर्वान्तर्यामी स्वरूप है और दक्षिण अंग रयि अर्थात् बाह्य-भोग्य स्वरूपहै । इस जगत् में जो सन्तान की कामना करते हैं, वे यज्ञादि द्वारा देवताओं का पूजन करना, ब्राह्मण एवं श्रेष्ठ पुरुषों का धनादि से सत्कार करना, दुखी प्राणियों की सेवा करना आदि इष्टकर्म तथा कुँआ, बावली, तालाब, धर्मशाला विद्यालय, पुस्तकालय आदि लोकोपकारी चिरस्थायी स्मारकों की स्थापना करना आदि पुण्यकर्मों को श्रेष्ठ समझते हैं और इनके फलस्वरूप इस लोक तथा परलोक के भोगों के उद्देश्य से इनकी उपासना अर्थात् विधिवत् अनुष्ठान करते हैं, यह उस संवत्सर का रूप परमात्मा के दक्षिण अंग की उपासना है । इसी को ईशावास्योपनिषद् में असम्भूति के नाम से देव, पितर, मनुष्य आदि शरीरों की सेवा बतलाया है । इसके प्रभाव से वे चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं और वहाँ अपने कर्मों का फल भोग कर पुनः इस लोक में लौट आते हैं, यही पितृयाण मार्ग है ।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृति दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेने अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ।।[1]

व्याख्या-

परब्रह्म परमेश्वर के प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर स्वरूप इस सूर्य के विषय में कितने ही तत्ववेत्ता तो यह कहते हैं कि इसके पाँच पैर हैं । अर्थात् छः ऋतुओं में से हेमन्त और शिशिर, इन दो ऋतुओं की एकता करके पाँच ऋतुओं को वे इस सूर्य के पाँच चरण बतलाते हैं, तथा यह भीकहते हैं कि बारह महीने ही इसका बारह आकृतियाँ अर्थात् बारह शरीर हैं । इसका स्थान स्वर्गलोक से भी ऊँचा है । स्वर्ग लोक भी इसी के आलोक से प्रकाशित है । इस लोक में जो जल बरसता है, उस जल की उत्पत्ति इस से होती है, अतः सबको जलरूप जीवन प्रदान करने वाला होने से यह सबका पिता है । दूसरे ज्ञानी पुरुषों का कहना है कि लाल, पीले आदि सात रंगों की किरणों से युक्त तथा बसन्त आदिछः ऋतुओं के हेतुभूत इस विशुद्ध प्रकाशय सूर्य

1-प्रश्नोपनिषद्

मण्डल में- जिसे सात चक्र एवं छः अरों वाला रथ कहा गया है- बैठा हुआ इसका आत्मारूप सबको भलीभाँति जानने वाला सर्वज्ञ परमेश्वर ही उपास्यहै । यह स्थूल नेत्रों से दिखाई देने वाला सूर्य मण्डल उसका शरीर है इसलिए यह उसी की महिमाहै।

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्ण पक्ष एवं रयिः शुक्लः प्राणस्तमादेते ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वान्तर इतरस्मिन् ।।[1]

व्याख्या-

इस मंत्र में महीनो को प्रजापति रूप देकर परमेश्वर की कर्मों द्वारा उपासनाकरने का रहस्य बतलाया गया है । भाव यह है कि प्रत्येक महीना ही मानो प्रजापति है, उसमें कृष्णपक्ष के पन्द्रह दिन तो उस परमात्मा का दाहिना अंग है, इसे रयि ।स्थूलभूत समुदाय का कारण। समझना चाहिए । यह उस परमेश्वर का शक्ति स्वरूप भोग-मय रूप है और शुक्ल पक्ष के पन्द्रह दिन ही मानों उत्तर अंग है ।यही प्राण अर्थात् सबको जीवन प्रदान करने वाले परमात्मा का सर्वान्तर्यामी है । इसलिए जो कल्याण कामी ऋषि है, अर्थात् जो रयि स्थानीय भोग पदार्थो से विरक्त होकर प्राण स्थानीय सर्वात्मरूप परब्रह्म परमेश्वर को चाहने वाले हैं, वे अपने समस्त शुभ कर्मों को शुक्ल पक्ष में करते हैं, अर्थात् शुक्लपक्ष स्थानीय प्राणाधार परब्रह्म परमेश्वर के अर्पण करते हैं- स्वयं उसका फल नहीं चाहते हैं, यही गीतोक्त कर्मयोग है । इनसे भिन्न जो भोग-आसक्त मनुष्य है वे पदार्थों की प्राप्ति के उद्देश्य से सब प्रकार के कर्म किया करते हैं, इनका वर्णन गीता में "स्वर्गपरा:" के नाम से हुआ है ।

अहोरात्रों वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणोरात्रिरेव रयिः प्राण वा एते प्रस्कन्दान्ति ।
ये दिवा रत्या संयुज्यन्तो ब्रह्मचर्यमेव तदयद्रात्रे रत्या संयुज्यन्ते ।।[2]

1-प्रश्नोपनिषद्

2-वही

व्याख्या-

इस मंत्र में दिन और रात्रि रूप चौबीस घंटे के काल रूप में परमेश्वर के स्वरूप की कल्पना करके जीवनोपयोगी कर्मों का रहस्य समझाया है। भाव यह है कि ये दिनऔर रात मिलकर जगत् पति परमेश्वर का पूर्णरूप है। उसका यह दिन तो मानो प्राण अर्थात् सबको जीवन देने वाला प्रकाशमय विशुद्ध रूप है और रात्रि हो भोग रूप रयि है। अतः जो मनुष्य दिन में परमात्मा के विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने की इच्छा से प्रकाशमय मार्ग में चलना आरंभ करके भी स्त्री प्रसंग को आदि विलास में आसक्त हो जाते हैं, वे अपने आप तक न पहुँचकर इस जीवन को व्यर्थ खो देते हैं। उनसे भिन्न जो सांसारिक उन्नति चाहने वाले हैं, वे यदि शास्त्र के नियमानुसार ऋतुकाल में रात्रि के समय नियमानुकूल स्त्रीप्रसंग करते हैं तो वे शास्त्र की आज्ञा का पालन करने के कारण ब्रह्मचारी के तुल्य ही हैं।

अन्नं वै प्रजापतिस्तस्यौ ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति।[1]

व्याख्या-

इसमंत्र में अन्न को प्रजापति का स्वरूप बताकर अन्न की महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि यह सब प्राणियों का आहार रूप अन्न ही प्रजापति है, क्योंकि इसी से वीर्य उत्पन्न होता है और वीर्य से समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। इस कारण इस अन्न को भी प्रकारान्तर से प्रजापति माना गया है-

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एषं मेघवानेष वायुः एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्।।[2]

व्याख्या-

वाणी आदि सब देवता स्तुति करते हुए बोले- यह प्राण ही अग्निरूप धारण करके तपता है और यही सूर्य है। यही मेघ, इन्द्र और वायु है। यही देव,

---

1-प्रश्नोपनिषद,

2-वही

पृथ्वी और रयि ।भूत समुदाय। है तथा सत्-अनिरुक्त एवं उससे भी श्रेष्ठ जो अमृत-स्वरूप परमात्मा है, वह भी यह प्राण ही है-

'अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
ऋचो यजूँषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ।।[1]

व्याख्या-

जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में लगे हुए और नाभि के ही आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार ऋग्वेद की सब ऋचायें, यजुर्वेद के समस्त मंत्र, सब का सब सामवेद, उनकेद्वारा सिद्ध होने वाले, यज्ञादि शुभ कर्म और यज्ञादि शुभ कर्म करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अधिकारीवर्ग- ये सब के सब प्राण के आधार परही टिके हुए हैं, सबका आश्रय प्राण ही है ।

देवानामसिवहितमः पितृणां प्रथमा स्वधा,
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वांगिरसामसि ।

व्याख्या-

हे प्राण तू देवताओं के लिए हवि पहुँचाने वाला उत्तम अग्नि है । पितरों के लिए पहली स्वधा है । अथर्वांगिरस आदि ऋषियों के द्वारा आचारित ।अनुभूत। सत्य भी तू ही है ।

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ।।[2]

व्याख्या-

हे प्राण तू सब प्रकार के तेज से सम्पन्न, तीनों लोकों का स्वामी इन्द्र है, तू ही प्रलयकाल में सबका संहार करने वाला रुद्र है और तू ही सबकी भली भाँति यथायोग्य रक्षा करने वाला है । तू ही अन्तरिक्ष में ।पृथ्वी और स्वर्ग के बीच में। विचरने वाला वायु है तथा तू ही अग्निचन्द्र तारे आदि समस्त ज्योतिषगणों का स्वामी सूर्य है ।

1-प्रश्नोपनिषद्

2-वही

यदा त्वमाभिवर्षस्येमाः प्राण ते प्रजाः आनन्द-
स्यास्तिष्ठान्ते कामायान्नं भविष्यतीति ।।[1]

व्याख्या-

हे प्राण जब तू मेघरूप होकर पृथ्वी लोक में सब ओर वर्षा करता है तब तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा हम लोगों के जीवन-निर्वाह के लिए यथेष्ट अन्न उत्पन्न होगा ऐसी आशा करती हुई आनन्द में मग्न हो जाती है-

प्राजापत्यस्त्वं प्राणर्षिस्त्वा विश्वस्य सत्पतिः
वयमाद्यस्य दातारः पितास्त्वं मातरिश्व नः ।।[2]

व्याख्या-

हे प्राण तू संस्कार रहित होकर भी एक मात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है । तात्पर्य यह है कि तू स्वभाव से ही शुद्ध है, अतः तुझे संस्कारद्वारा शुद्धि की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत तू ही सबको पवित्र करने वाला एक मात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है । हम लोग सब इन्द्रियों और मन आदि तेरे लिए नाना प्रकार की भोजन सामग्री अर्पण करने वाले हैं और तू उसे खाने वाला है तू ही समस्त विश्व का उत्तम स्वामी है । हे आकाशधारी सम्पूर्ण वायु स्वरूप प्राण तू हमारा पिता है, क्योंकि तुझसे ही हम सबकी उत्पत्ति हुई है ।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ।।

व्याख्या-

हे प्राण जो तेरा स्वरूप वाणी, श्रोत्र, चक्षु आदि समस्त इन्द्रियों में और मन आदि अन्तःकरण की वृत्तियों में व्याप्त है, उसे तू कल्याण बना ले, अर्थात् तुझमें जो हमें सावधान करने के लिए आवेश आया है उसे शान्त करले और तू शरीर से उठकर बाहर न जा यह हम लोगों की प्रार्थना है ।

1-प्रश्नोपनिषद्

2-वही

प्राणस्येदं वशे सर्वत्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति।।

व्याख्या-

प्रत्यक्ष दीखने वाले इस लोक में जितने भी पदार्थ हैं और जो कुछ स्वर्ग में स्थित है, वे सबके सब इस प्राण के ही अधीन हैं । यह सोचकर वे इन्द्रियादि देवगण अन्त में प्राण से प्रार्थना करते हैं :- हे प्राण जिस प्रकार माता अपने पुत्रों की रक्षा करती है, उसी प्रकार तू हमारी रक्षा कर तथा तू हम लोगों को श्री अर्थात कार्य करने की शक्ति और प्रज्ञा प्रदान कर -

आत्मन् एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनो-कृतेनायात्यास्मिञ्शरीरे ।।

व्याख्या-

वह सर्वश्रेष्ठ प्राण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, वह पुरब्रह्म परमेश्वर ही इसका उपादान कारण है और वही इसकी रचना करने वाला है, अतः इसकी स्थिति उस सर्वात्म महेश्वर के अधीन उसी के आश्रित है- ठीक जिस प्रकार किसी मनुष्य की छाया उसके अधीन रहती है । यह मन द्वारा किये हुए संकल्प से किसी शरीर में प्रवेश करता है । भाव यह है कि मरते समय प्राणी के मन में उसके कर्मानुसार जैसा संकल्प होता है, उसे वैसा ही शरीर मिलता है, अतः प्राणों का ब शरीर में प्रवेश मन के संकल्प से ही होता है-

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते ऽमीनयमीनतां ग्रामानधि
तिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ।।

व्याख्या- जिस प्रकार भूमण्डल का चक्रवर्ती महाराज भिन्न भिन्न ग्राम, भूमण्डल और जनपद आदि में पृथक् पृथक् अधिकारियों की नियुक्ति करता है और उसका कार्य बाँट देता है, उसी प्रकार यह सर्वश्रेष्ठ प्राण भी अपने अंग स्वरूप

अपान, व्यान आदि दूसरे प्राणो को शरीर के पृथक् पृथक् स्थानो में पृथक् पृथक् स्थानो में कार्य के लिए नियुक्त कर देता है-

पायूपस्थेअपान चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं
प्रतिष्ठते मध्ये तु समानः ।
एषाः हि सतद हुतम् अन्न समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति।

व्याख्या-

वह स्वयं तो मुख,औरनासिका द्वारा विचरता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित रहता है, तथा गुदा और उपस्थ में अपान को स्थापित करता है । उसका काम मल-मूत्र को शरीर के बाहर निकाल देना है । शरीर के मध्य भाग नाभि में समान को रखता है । यह समान वायु ही प्राण रूप अग्नि में हवन किये हुए उदर में डाले हुए अन्न को अर्थात् इसके सार को सम्पूर्ण शरीर के अंग प्रत्यंग में यथायोग्य समभाव से पहुँचाता है । उस अन्न के सारभूत रस से ही इस शरीर में ये सात ज्वालायें अर्थात् समस्त विषयों को प्रकाशित करने वाले दो नेत्र, दो कान, दो नासिकाएं और एक मुख (रसना) ये सात द्वार उत्पन्न होते हैं, उस रस से पुष्ट होकर ही ये अपना अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं-

हृदि हनेष आत्मा अत्रैतदेकशतं ना हीनां वासं शतं शतमेकैकस्या
व्दासप्तातिव्दांसप्ततिः प्रति शाखानाडीसहस्त्राणि भवन्त्यासु
व्यानश्चरति ।।

व्याख्यान

इस शरीर में जो हृदय प्रदेश है, जो जीवात्मा का निवास स्थान है, उसमें एक तो मूलभूत नाड़िया हैं उनमें से प्रत्येक नाड़ी की एक एक सौ शाखा नाड़िया हैं और प्रत्येक शाखा नाड़ी की बहत्तर बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ हैं । इस प्रकार इस शरीर में कुल बहत्तर करोड़ नाडियाँ हैं, इन सब में व्यान वायु विचरण करता है-

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोक नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव
मनुष्यलोकम् ।।

व्याख्या-

इन ऊपर बतलाई हुई बहत्तर करोड़ नाड़ियों से भिन्न एक नाड़ी और है जिसको सुषुम्ना कहते हैं, जो हृदय से निकल कर ऊपर मस्तिष्क में गई है। उनके द्वारा उदान वायु शरीर में ऊपर की ओर विचरण करता है, जो मनुष्य पुण्यशील होता है, जिसके शुभकर्मों के भोग उदय हो जाते हैं, उसे यह उदान वायु ही अन्य सब प्राण और इन्द्रियों के सहित वर्तमान शरीर से निकाल कर पुण्यलोकों में अर्थात स्वर्गादि उच्चलोकों में ले जाता है। पाप कर्मों से युक्त मनुष्य शूकर -कूकर आदि पाप योनियों में और पुण्य तथा पाप दोनों प्रकार के कर्मों का मिश्रित फल भोगने के लिए अभिमुख हुए रहते हैं, उनको मनुष्य शरीर में ले जाता है-

आदित्योहवै बाह्यः प्राण उदयत्येष हि एनम् चाक्षुषां
प्राणमनुगृहानः ।
पृथिव्यां या देवता सैवा पुरुषस्यापान मष्टभ्यान्तरा यदाकाशः
स समानो वायुर्व्यानः ।।

व्याख्या-

यह निश्चय पूर्वक समझना चाहिए कि सूर्य ही सबका बाह्य प्राण है। यह मुख्य प्राण सूर्य रूप से उदयहोकर इस शरीर के अंग प्रत्यंगो को पुष्ट करता है और इन्द्रियरूप आध्यात्मिक शरीर पर अनुग्रह करता है- उसे देखने की शक्ति अर्थात् प्रकाश देता है। पृथ्वी में जो देवता अर्थात् अपान वायु की शक्ति है, वह इस मनुष्य के भीतर रहने वाले अपान वायु को आश्रय देती है। यह अपान वायु की शक्ति गुदा और उपस्थ इन्द्रियों की सहायक है तथा इनके बाहरी स्थूल आकार को धारण करती है। पृथ्वी और स्वर्गलोक के बीच का जो आकाश है वही समान वायु का बाह्य अंग-प्रत्यंगों को अवकाश देकर इसकी रक्षा करता है और शरीर के भीतर रहने वाले समान वायु को विचरने के लिए शरीर में अवकाश देता है, इसकी सहायता से श्रोत्र इन्द्रिय शब्द सुन सकती है। आकाश में विचरने वाला प्रत्यक्ष वायु ही व्यान का बाह्य स्वरूप है, यह इस शरीर के बाहरी अंग प्रत्यंग को चेष्टाशील करता है और शान्ति प्रदान करता है, भीतरी व्यान

वायु को नाड़ियों में संचालित करने तथा त्वचा इन्द्रिय को स्पर्श का ज्ञान कराने में भी यह सहायक है-

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्त तेजाः
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ।।

व्याख्या-

सूर्य और अग्नि का जो बाहरी तेज अर्थात् उष्णत्व है, वही उदान का बाह्य स्वरूप है । वह शरीर के बाहरी अंग प्रत्यंगों को ठण्डा नहीं होने देता और शरीर से उदान वायु निकल जाती है उसका शरीर गरम नहीं रहता। अतः शरीर की गर्मी शान्त हो जाते ही उसमें रहने वाला जीवात्मा मन में विलीन हुई इन्द्रियो को साथ लेकर उदान वायु के साथ साथ दूसरे शरीर में चला जाता है ।

याच्यि[illegible] प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः
सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति ।।

व्याख्या-

मरते समय इस आत्मा को जैसा संकल्प होता है उसका मन अन्तिम क्षण में जिस भाव का चिंतन करता है, उस संकल्प के सहित मन, इन्द्रियों को साथ लिए यह मुख्य प्राण में स्थित हो जाता है । वह मुख्य प्राण उदान वायु से मिलकर मन और इन्द्रियो के सहित जीवात्मा को उस अन्तिम संकल्प के अनुसार यथायोग्य भिन्न भिन्न लोक अथवा योनि में ले जाता है-

य एवं विद्वान् प्राणं वेद न हास्य प्रजा,
हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ।।

व्याख्या-

जो कोई विद्वान् इस प्रकार इस प्राण के रहस्य को समझ लेता है । प्राण के महत्त्व को समझकर हर प्रकार से उसे सुरक्षित रखता है, उसकी अवहेलना नहीं करता, उसकी सन्तान परम्परा कभी नष्ट नहीं होती और वह यदि उसके आध्यात्मिक रहस्य को समझ कर अपने जीवन को सार्थक बना लेता है, एक

क्षण भी भगवान् के चिंतन से शून्य नहीं रहने देता तो सदा के लिए अमर हो जाता है अर्थात् जन्म-मरण संसार से मुक्त हो जाता है, इस विषय पर निम्नलिखित श्रुचा है-

उत्पत्तिमायति स्थान विभुत्वं चैव पंच धा ।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विद्यायामृतमश्नुते वि विद्यायामृतम् अश्नुत इति ।।

व्याख्या-

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार जो मनुष्य प्राण की उत्पत्ति को अर्थात् यह जिससे और जिस प्रकार उत्पन्न होता है-, इस रहस्य को जानता है, शरीर में उसके प्रवेश करने की प्रक्रिया का तथा इसका व्यापकता का ज्ञान रखता है, तथा तो प्राण की स्थिति को अर्थात् बाहर और भीतर कहाँ कहाँ रहता है, इस रहस्य को तथा उसके बाहरी और भीतरी अर्थात् आदिभौतिक और आध्यात्मिक पाँचों भेदों के रहस्य को भलीभाँति समझ लेता है वह अमृत स्वरूप परमात्मनन्दमय को प्राप्त कर लेता है तथा उसआनन्दमय के संयोग सुख का निरंतर अनुभव करता है ।

योगदर्शन और प्राण-

"अन्तः शरीरे धातु-मल-रसादीनां प्रेरणाहेतुः प्राणः ।"

योगासनों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनका अभ्यास करते समय प्राण का विशेष ध्यान रखा जाता है, अर्थात् योगासनों के साथ प्राणायाम का विशेष संबंध है । प्राण हमारे शरीर के भीतरी व्यवस्था के व्यवस्थापन एवं संचालन में विशेष महत्व रखते हैं तभी तो कहते हैं " प्राण ही जीवन है या जब तक सांस तब तक आस" । क्योंकि प्राणों से मुक्त आहार रस आदि के रूप में परिणत होता है तथा उसका निःसार भाग मल नियमित रूप में बाहर आता है । शरीर के धारक वात- पित्त और कफ व्यवस्थित एवं संतुलित रहते हैं-

छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।"

छर्दन का अर्थ है, वमन करना, बाहर निकालना, विधारण का अर्थ है विशेषतया धारण करना, मरना । प्राण को बाहर निकालने व मरने से चित्त

निर्मल एवं प्रसन्न होता है । प्राण के निकालने व भरने से तात्पर्य गहरे सांस हैं । गहरे सांस लेने से शरीर के आन्तरिक संस्थान कोश तथा कण सुविकसित और प्रफुल्लित रहते हैं-

"तस्मिन् सति श्वास प्रश्वास योगीतविच्छेदः प्राणायाम ।

उसमें "आसन में संस्थित" होकर श्वास प्रश्वास की गतियों को विच्छिन्न करना प्राणायाम है ।

जब यह आसन सिद्ध हो जाता है, तब इस श्वास प्रश्वास की गति को रोककर उस पर विजय प्राप्त करना पड़ता है ।

प्राणायाम का अर्थ है शरीर स्थित जीवनी शक्ति को वश में करना । यद्यपि प्राण शब्द बहुधा श्वास के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जब भी वास्तव में वह श्वास नहीं है ।प्राण का अर्थ है, जागृतिक समस्त शक्तियों की समष्टि । यह वह शक्ति है जो प्रत्येक देह में अवस्थित है, और उसका ऊपरी प्रकाश है- फेफड़े की यह गति। प्राण जब श्वास को भीतर की ओर खींचता है, तभी यह गति प्रारंभ होती है । प्राणायाम करने के समय हम उसी को संयत करने का प्रयत्न करते है । इस प्राण पर अधिकार प्राप्त करने के लिए हम पहले श्वास-प्रश्वास को संयत करना प्रारंभ करते हैं क्योंकि वही प्राण जय का सबसे सरल मार्ग है-

"बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृतिः देशकाल संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।।"

बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तभभीवृत्ति के भेद से यह प्राणायाम तीन प्रकार का है, देश काल और संख्या के द्वारा नियमित तथा दीर्घ या सूक्ष्म होने के कारण इनमें भी फिर नाना प्रकार के भेद हैं ।

यह प्राणायाम तीन प्रकार की क्रियाओं में विभक्त है, पहली तब हम श्वास को अन्दर खींचते हैं, दूसरी जब हम उसे बाहर निकालते हैं, तीसरी जब हम उसे फेफड़े या उसके बाहर रोकते हैं ।

ये पुनः देश, काल और संख्या के अनुसार भिन्न भिन्न रूप धारण करते हैं । देश का अर्थ है- प्राण को शरीर के किसी अंश विशेष में आबद्ध रखना । समय का अर्थ है- प्राण को किस स्थान में कितने समय तक रखना होगा, इस बात का ज्ञान,

और संख्या का अर्थ है, यह जान लेना कि कितनी बार ऐसा करना होगा । इसलिए कहाँ पर कितने समय तक और कितनी बार रेचक आदि करना होगा, इत्यादि कहा जाता है । इस प्राणायाम का फल है उद्घाटन अर्थात् कुण्डलिनी का जागरण-

बाह्याभ्यन्तविषयाक्षेपी चतुर्थः ।।

चौथे प्राणायाम का प्राणायाम वह है, जिसमें प्राणायाम के समय बाह्य या आभ्यन्तर किसी विशेष का चिंतन किया जाता है ।

यह चौथे प्रकार का प्राणायाम है इसमें चिंतन के साथ दीर्घ काल तक अभ्यास करते रहने से कुम्भक होता है दूसरे प्राणायामों में चिंतन का सम्पर्क नहीं रहता ।

"ततः क्षीयन्ते प्रकाशावरणम्" ।।

उस प्राणायाम के अभ्यास से चित्त के प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है । चित्त में स्वभावतः समस्त ज्ञान भरा है, वह सत्व पदार्थ द्वारा निर्मित है, पर रज और तम पदार्थों से ढका हुआ है । प्राणायाम के द्वारा चित्त का यह आवरण हट जाता है-

"धारणासु च योग्यतामनसः ।

और धारणाओं में मन की समाहिति या सिद्ध होती है । प्राणायाम के दो प्रकार हैं-

1- स्वास्थ्यप्राणायाम, 2- समधि प्राणायाम ।

स्वास्थ्य संबंधी प्राणायाम सदैव खड़े होकर किये जाते हैं । समाधि संबंधी प्राणायाम सदैव पद्मासन, सिद्धासन वा सुखासन में किये जाते हैं । निश्चित योगासन में स्थित होकर श्वास और प्रश्वास की गति के विच्छेद करने का नाम प्राणायाम है ।श्वास और प्रश्वास को इतना शिथिल कर देना चाहिए कि योगी को अपने श्वास प्रश्वास की ध्वनि सुनाई न पड़े- यही श्वास प्रश्वास का विच्छेद है । प्रश्वास भीतर से बाहर जाता है- यह प्राण की बाह्य गति है । श्वास बाहर से भीतर जाती है- यह प्राण की आभ्यन्तर गति है । इच्छा शक्ति से दोनो प्रकार की गतियों का स्तम्भन करना प्राण की स्तम्भवृत्ति है ।"

श्वास के बाहर की ओर प्रवृत्त होने पर वे दीर्घता के साथ सूक्ष्म करके बाहर निकालना और बाहर ठहराना श्वास के भीतर की ओर प्रवृत्त होने पर उसे दीर्घता के साथ सूक्ष्म करके भीतर भरना और भीतर ठहराना- प्राण की श्वास-प्रश्वास रूपी गतियों के विच्छेद की यह सहज सरल विधियां हैं । बाह्य और अन्तः प्राण में स्तम्भन को यह एक क्रिया माना गया है । इस प्रकार श्वास को लम्बा और सूक्ष्म करके निकालना, भीतर भरना और स्तम्भन करना । श्वास प्रश्वास की गतियों के विच्छेद के ये तीन अभ्यास हैं । इनसे प्राण सर्वथा सम और स्थिर हो जाता है । परिदृष्ट से तात्पर्य है- सर्वविदित सब ही जानते हैं कि प्रश्वास आभ्यन्तर देश में जाता है । सब ही जानते हैं कि श्वास बाह्य देश से आभ्यन्तर देश में जाता है तथा ये गति संख्यातः बार बार ! होती रहती है ।

चौथा अभ्यास है बाहर जाते हुए प्रश्वास को बाहर फेंकना, भीतर जाते हुए श्वास को भीतर फेंकना , बाहर भीतर स्तम्भन करना । यह अभ्यास बैठकर कदापि नहीं करना चाहिए । जो भी योगी इस अभ्यास को योगासनस्थ होकर करते हैं वे सदैव रोगी रहते हैं, यह अभ्यास सदैव खड़े होकर ही करना चाहिए।

प्राण के सम और स्थित होने पर प्रकाश का आवरण नष्ट हो जाता है । और धारणाओ में मन की समाहिति सिद्ध होती है । प्राण के सम और स्थिर रहने पर ही मन भी सम और स्थिर होकर किसी भी धारणा में समहित हो जाता है । "धारणासु" शब्द का प्रयोग यहाँ पन्च ज्ञानेन्द्रियों की धारणाओ के लिए हुआ है-

1- नेत्र का धरणा है दर्शन ।
2- श्रोत्र की धारणा है श्रवण ।
3- घ्राण की धारणा है गन्ध ।
4- रसना की धारणा है आस्वादन ।
5- त्वचा की धारणा है स्पर्श ।

समाहिते
समति मन नेत्र से युक्त होकर दृष्टि को समाहित करता है । घ्राण से युक्त होकर गंधन शक्ति को समाहित कर देता है, रसना से युक्त स्वाद को समाहित कर

देता है । मन और धारणाओं की सह समाहिति से प्रत्येक तत्व का ज्ञान, प्रत्येक सत्य के सत्य का साक्षात्कार और प्रत्येक विज्ञान का आविष्कार होता है, इसी का नाम प्रकाश के आवरण का नाश है-

"स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" ।।

जबइन्द्रियाँ अपने अपने विषय को छोड़कर मानों चित्त का स्वरूप ग्राह्य करती हैं तब उसे प्रत्याहार कहते हैं । ये इन्द्रियां मन की ही विभिन्न अवस्थाएँ मात्र हैं । हम एक पुस्तक देखते हैं । वास्तव में वह पुस्तक आकृति बाहर नहीं है । वह तो मनमें है । बाहर की कोई वस्तु उस आकृति को केवल जगा भर देती है । वास्तव में वह चित्त में ही है । इन इन्द्रियों के सामने जो कुछ आता है, उसके साथ ये मिश्रित होकर उसी का आकार धारण कर लेती हैं । यदि हम चित्त को ये सब विभिन्न आकृतियाँ धारण करने से रोक सकें, तभी हमारा मन शान्त होगा और इन्द्रियाँ भी मन के अनुरूप हो जायेंगी । इसी को प्रत्याहार करते हैं-

"ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ।"

उस प्रत्याहार से इन्द्रियों पर पूर्णरूप से जय प्राप्त हो जाती है । असम्प्रयोग अ + सम् - प्रयोग । प्रयोग का अर्थ है कि प्रयुक्त होना ।असम्प्रयोग का अर्थ है कि नितान्त अप्रयुक्त होना । प्रत्येक इन्द्रिय स्वभावतः अपने अपने विषय में संप्रयुक्त होती रहती है, अनायास अपनी अपनी क्रियायें तथा चेष्टायें करती रहती हैं ।

योगी अपनी आत्मधारणा द्वारा यम-नियम के पालन और आसन प्राणायाम के यथावत् अभ्यास से अपनी समस्त इन्द्रियों को ऐसी संयत और समाहित कर लेता है कि वे अपनी स्वतंत्र अनायास गतियों से निर्गत रहती हुई योगी के चित्त की अनुकारी ।पीछे चलने वाली। हो जाती हैं ।

योगी जब अपने चित्त का निरोध करता है तब उसकी समस्त इन्द्रियाँ स्वयमेव पूर्णतया निरुद्ध हो जाती हैं । जब वह अपने चित्त को अन्तः स्थ करता है

तो उसकी सारी इन्द्रियाँ सहजतया अन्तःस्थ समाहित हो जाती हैं। स्थूल जगत् में कार्य करने के लिए वह अपने चित्त को बाह्यमुख करता है, तो उसकी इन्द्रियाँ स्वतः ही बाह्य जगत् में कार्य करने लगती हैं।

प्रत्याहार :- प्रति + आ + हार० प्रति आहरण।

इन्द्रियों का चित्त के प्रति आहृत रहना, इन्द्रियों के चित्तानुकारी होना है।

इन्द्रियों के चित्तानुकारी रहने से इन्द्रियों की परमावश्यकता प्रत्यक्षतः सिद्ध होती है।

योग के आठ अंगों में प्राण का महत्व

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के आठ अंग हैं। इन्हीं के अनुष्ठान से विवेक ख्याति पर्यन्त ज्ञानदीप्ति होती है। तत्पश्चात सम्प्रज्ञात समाधि परिपक्व हो जाने पर सर्ववृत्तिनिरोध रूप असम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है। इनमें से धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन योग के अन्तरंग साधन हैं तथा पूर्व के पाँच बहिरंग साधन हैं।[1]

श्री विज्ञानभिक्षु के अनुसार योगारूढ़ गृहस्थादि मन्दाधिकारियों के लिए अष्टांगयोग का विधान है। उत्तम और मध्यम वर्ग के हेतु केवल ज्ञान एवं ज्ञान संचित कर्मों के वर्णन में उन्होंने यह बतलाया है।[2] कुछ भी हो सच तो यह है कि विविध क्लेश संकुल संसार से निवृत्ति हेतु क्रमशः अन्तर्मुख होने का सुगम साधन मार्ग अष्टांगयोग है, जिसमें अन्य किसी साधन की अपेक्षा न होने से यमों का सर्वप्रथम स्थान है। नियम साधना पहले यमों के साधन की अपेक्षा रखती है। उसी प्रकार क्रमानुसार उत्तरोत्तर आसन प्राणायाम आदि आसन आदि कारण सापेक्ष हैं। यमों को अपने पूर्व अष्टांगयोग में से किसी के भी अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं होती।

इन यमों के नाम हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह।[3]

समस्त प्राणियों के प्रति सब प्रकार से द्रोह त्याग ही अहिंसा है। अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा से किसी प्राणी को क्लेश न पहुँचाने की वृत्ति ही अहिंसा है, यही अहिंसा सबसे बड़ा धर्म एवं सुख है।

यथार्थ चिन्तन एवं कथन सत्यानुष्ठान है। अर्थात् जिस रूप में किसी वस्तु को प्रत्यक्ष किया हो, जैसा उसे तर्कानुमान से जाना हो, अथवा जैसा आगम से सुना हो, उसी रूप में उस वस्तु को धारण करना तथा दूसरों को बतलाना सत्य है। निज स्वार्थ रहित वस्तु के ग्रहण एवं उसको ग्रहण स्पृहा के परित्याग की

1-योगसूत्र 2/29
2-योगसारसंग्रह, पृ0 60
3-पातंजलि योगसूत्र का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन, पृ0 123

चेष्टा ही अस्तेय साधन है ।

मन, वाणी, एवं कर्म द्वारा सभी अवस्थाओं में सर्वत्र, प्राणियों में मैथुन का परित्याग ब्रह्मचर्य है । किसी से कुछ लेने से हृदय अपवित्र हो जाता है । दान ग्रहण करने वाला हीन हो जाता है । उसकी स्वतंत्रता खो जाती है । वह बद्ध एवं आसक्त हो जाता है, क्योंकि वस्तुओं के ग्रहण से अर्जन, रक्षण, क्षय, संग एवं हिंसा आदि दोष उत्पन्न होते हैं, अतः प्राणधारणा के लिए आवश्यक वस्तु से अधिक का अस्वीकरण अपरिग्रहण है । भिक्षु के अनुसार संकटकाल में किसी से इच्छा पूर्वक उपहार ग्रहण न करना अपरिग्रह है ।

कल्याण पथ में अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं । पूर्वोक्त यम-नियमों के अभ्यास में हिंसा अनृत, आदि विघ्न उपस्थित होने पर अनेक प्रतिपक्षी की भावना करनी चाहिए । वितर्क आदि शब्द से हिंसा, अनृत, स्तेय, स्त्रीगमन, तथा अपरिग्रह पाँच प्रकार के वितर्क समझने चाहिए । ये क्रमशः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के विरोधी हैं ।

रोग एवं अस्वस्थ शरीर भी योगमार्ग में बाधक हैं । अतः शरीर शोधन शरीर के विकास एवं रोग-निवृत्ति के साधनों का ज्ञान भी परमावश्यक है । हठ योग में शरीर शोधन के छः साधन बतलाये हैं- धौति, वस्ति, नेति, नौलि आटक, और कपाल भाति ।

पूर्वोक्त हिंसादि वितर्क जब तक बाधा पहुँचायें तब तक बारम्बार प्रतिपक्ष भावना द्वारा उनके निराकरण करते रहना चाहिए ।

इन वितर्क विघ्नाङ्कुरों के दग्ध बीजतुल्य हो जाने पर यमादि के सिद्धि सूचक लक्षण प्रकट होते हैं । यथा अहिंसा में पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाने पर उस योग साधक के सान्निध्य में आने वाले सभी प्राणी वैरभाव शून्य हो जाते हैं । यम-नियमों की प्रतिष्ठा से तात्पर्य उनके अनुष्ठान में बाधक वितर्क समूह की अप्ररोह समर्थता से है ।अहिंसा सम्बन्धी सिद्धि के विषय में यह समझना चाहिए कि जिस

1-योगसूत्र 2/35

योगी में अहिंसा के पूर्वजन्म संचित संस्कार होते हैं उसी के समक्ष हिंसक पशु वैर त्याग करते हैं । इसी प्रकार सत्य भाषण में पूर्ण निष्ठा प्राप्त होने पर वाक् सिद्धि होती है । सत्यनिष्ठ व्यक्ति की वाक् शक्ति अमोघ हो जाती है । सत्यनिष्ठा भी प्रकृष्ट संकल्प शक्ति के कारण ही होती है ।

अस्तेय में प्रतिष्ठित होने पर उस योगी के समक्ष समस्त रत्न उपस्थित होते हैं । अस्तेयनिष्ठ साधक के निःस्पृह भाव के कारण वह सबका परमविश्वासपात्र बन जाता है । उसके प्रभाव से मुग्ध होकर उसे परम अधिकारी स्थल समझ कर श्रद्धालुओं के द्वारा स्वयं रत्न उपस्थित किये जाते हैं । यहाँ रत्न से तात्पर्य केवल धन रत्न को नहीं अपितु गुण से भी है । प्रत्येक जाति में जो श्रेष्ठ है वह रत्न है ।

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से वीर्यलाभ होता है अब्रह्मचारी को योग सिद्ध नहीं हो सकता ।

अपरिग्रह में दृढ प्रतिष्ठा होने पर विविध जन्मों के स्वरूप एवं जन्म संबंधी कार्यकारण परम्परा का ज्ञान होता है । वस्तुतः किसी से कोई वस्तु लेने पर उस मनुष्य का प्रभाव पड़ता है । प्राण धारण के उपयोगी द्रव्य के अतिरिक्त योगी किसी से कुछ नहीं लेते । अतः किसी के द्वारा अनगृहीत न होने से सर्वथा स्वाधीन एवं मुक्त स्वभाव हो जाते हैं ।

ईश्वर प्राणिधान में दृढ प्रतिष्ठित होने से समाधि सिद्ध होती है । ईश्वर प्रणिधान की परिपक्वावस्था में योगी अपने व्यक्तित्व को विस्मृत करके सतत् ईश्वर के ध्यान में निमग्न रहता है । ईश्वरप्राणिधान की परिपक्वावस्था में योगी अपने व्यक्तित्व को विस्मृत करके सतत् ईश्वर के ध्यान में निमग्न रहता है । ईश्वरप्राणिधान की पूर्णावस्था में समाधि सिद्ध होने पर ध्याता में सर्वज्ञता का आविर्भाव होता है । शेष यम- नियम अन्य प्रकार से समाधि के साधक हैं । क्योंकि वह समाधि योग्य भावना स्वरूप ही है । अब शंका हो सकती है कि जब केवल ईश्वरप्रणिधान से ही समाधि सिद्ध हो सकती है तो अन्य योगांग व्यर्थ हैं । किन्तु ऐसी शंका निःसार है । अन्य यम-नियम तथा योगांग भी ईश्वरप्रणिधान

सहायक हैं । पाँचों यम ईश्वरप्रणिधान के अतिरिक्त शेषों नियम एवं अहिंसादि के आचरण से अशुद्धि का क्षय होता है । आसनादि से द्वन्द्व निवृत्ति होती है । तत्पश्चात् चित्त ईश्वर प्रणिधान में पूर्णनिष्ठा को प्राप्ति योग्य बनाता है । ईश्वर प्रणिधान रहित शेष योगांग साधना से अनेक विघ्न उपस्थित होते रहते हैं । ईश्वर प्रणिधान युक्त योगसाधना से अल्पकाल में ही निर्विघ्न समाधि सिद्धि होती है।

तृतीय यांगांग है आसन । स्थिरतापूर्वक सुखावह उपवेशन ही आसन है । "आस्ते आसते वा अनेन इति आसनम् "- इस व्युत्पत्ति के द्वारा स्थिरता एवं सुख प्राप्त हो वही आसन है । आसन अनेक हैं । उदाहरणार्थ-पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वास्तिकासन, सिद्धासन, दण्डासन, समसंस्थानादि ।

हठयोग में आसनों का अत्यन्त विस्तृत एवं विशद वर्णन है । शरीर की स्वाभाविक चेष्टा करने तथा अनन्त के चिन्तन से भी आसन सिद्ध होता है । जब तक शरीर की स्वाभाविक चेष्टा रहेगी, अंग में जड़त्वादि के कारण एकाग्रता एवं स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकेगी, चित्तैकाग्र्य एवं स्थैर्य के बिना आसन, ध्यानादि विशेषता प्राणायाम की सिद्धि नहीं होता । अतः आसन लगाकर शरीर को निश्चेष्ट छोड़ देना चाहिए ।

आसन सिद्धि से द्वन्द्वों का अनभिघात होता है । अतः जब साधक में शीत, ऊष्ण, सुख-दुख आदि को अविचल भाव से सहन करने की शक्ति आ जाये तब उसे आसनासिद्धि हो चुकी है, ऐसा समझा चाहिए ।

आसनासिद्धि के पश्चात एवं प्रश्वास की गति का नियमन प्राणायाम कहलाता है । बाह्य वायु का नासिका द्वारा अन्दर प्रविष्ट करना श्वास कहलाता है । कोष्ठस्थ वायु का नासिका से बाहर निष्कासन प्रश्वास कहलाता है । इन श्वास एवं प्रश्वासों का स्वाभाविक गति का रेचक, कुम्भक तथा पूरक द्वारा विच्छिन्न करना प्राण का आयाम अर्थात प्राणायाम कहलाता है । प्राणायाम बाह्य वृत्ति आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति के भेद से तीन प्रकार का होता है । पुनः देश काल एवं संख्या द्वारा नियमित होकर दीर्घसूक्ष्म हो जाता है ।जब प्रश्वासपूर्वक गति का

अभाव किया जाता है तब उसे रेचक प्राणायाम कहते हैं । जब श्वासपूर्वक गतिरोध किया जाता है तब वह पूरक प्राणायाम कहलाता है । तृतीय प्राणायाम में एक ही बार के विधारक प्रयत्न द्वारा प्राण की बाह्य एवं आभ्यन्तर उभयवृत्तियो का रोध किया जाता है, इसे स्तम्भवृत्ति प्राणायाम कहते हैं । यह तीनों प्राणायाम पुनः देश परिदृष्ट, काल परिदृष्टि एवं संख्या परिदृष्ट के भेद से तीन तीन प्रकार के होते हैं ।

देश-परिदृष्ट प्राणायाम का अर्थ है, शरीर के किसी स्थान विशेष प्राण को आबद्ध रखना । जितनी दूर तक जिस प्राणायाम का विषय होता है, वह उसका देश कहलाता है ।

काल परिदृष्ट प्राणायाम का अर्थ है क्षण समूह के परिमाण द्वारा प्राण का नियमन करना ।

उद्घात क्रम से या मात्राओं की गणनापूर्वक किया गया प्राणायाम संख्या परिदृष्ट कहलाता है । श्वास-प्रश्वास में इतने उद्घात होते हैं, इस प्रकार श्वास प्रश्वास की संख्या द्वारा प्राणायाम काल का निर्णय किये जाने से इस प्राणायाम को संख्या परिदृष्ट कहते हैं ।

योग साधना में प्रथम इड़ा द्वारा पूरित वायु ले जाकर विपुल शक्ति के आश्रयभूत मूलाधार पद्म पर तीव्र आघात किया जाता है । इससे प्राण वायु ऊर्ध्वगमन हेतु उद्विग्न होता है किन्तु साधक स्तम्भ वृत्ति द्वारा उस उद्वेग को निगृहीत करके विक्षिप्त वायु को बलपूर्वक रोक देता है । यही उद्घात है, जो कम से कम बारह मात्रा पर्यन्त प्राण स्थिर रखने पर होता है । केवल श्वास प्राणायाम है । श्वास प्रश्वास प्राण का स्थूलतम रूप है । अतः प्रथम उन्हीं का आयाम करना पड़ेगा । प्राणायाम में सम्पूर्ण बाह्याभ्यन्तर प्राणशक्ति पर अधिकार प्राप्त होजाता है । प्राण पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर कोई भी शक्ति अवशेष नहीं रह जाती क्योंकि प्राण ही प्रत्येक शक्ति का मूलस्त्रोत है । प्राण जगत् की उत्पत्ति की कारणस्वरूपा अनन्तसर्वव्यापी विश्वपालकरी शक्ति है । बाह्याभ्यन्तर समस्त शक्तियो की मूलावस्था प्राण है ।

प्राणायाम योगांगों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है । इसके अभ्यास से प्रकाश का आवरण उत्तरोत्तर क्षीण होकर अन्त में नष्ट हो जाता है तथा धारणा की योग्यता प्राप्त होती है ।

इन्द्रियों का अपने अपने विषय पर असंबद्ध रहने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करना प्रत्याहार कहलाता है । प्रत्याहार साधना के लिए यत्न विशेष की आवश्यकता नहीं पड़ती । इन्द्रियां व्यापार चित्त की गति के अधीन हैं । यम-नियम प्राणायामादि के अनुष्ठान से चित्त बाह्य विषयों से विरत हो चुकता है अतः इन्द्रियां भी स्वतः विषयों से प्रत्याहृत हो जाती हैं । इन्द्रियों को निगृहीत करके उन्हें स्वेच्छानुवर्तिनी बना लेना ही प्रत्याहार साधना है । आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि से जब चित्त चांचल्य सम्यक् रूपेण निवृत हो जाये तब उसे किसी देश विशेष में बाँधना अर्थात स्थिर करना धारणा है । देश का अर्थ यहाँ बाह्याभ्यन्तर अध्यात्मिक देशों से है । ये देश नाभि-चक्र, अर्थात हृदय-कमल अनाहत चक्र नासिकाग्र चन्द्र, सूर्य, ध्रुव आदि हैं । इन देशों अर्थात आध्यात्मिक स्थल विशेषों में वृत्ति मात्र से चित्त को स्थिर कर देना धारणा है ।

उक्त धरणा के हृत्पुण्डरीक आदि देश में ध्येयाकार चित्तवृत्ति (प्रत्यय) का निरन्तर एक रस प्रवाह ध्यान कहलाता है जिस वृत्तिमात्र से चित्त धारणा काल में ध्येय से संबद्ध होता है, वह वृत्ति जब अविच्छिन्न गति से भासित होने लगे, तब वही ध्यान कहलाती है । वही ध्यान जब स्व-स्वरूप शून्यवत् होकर ध्येय के स्वरूप मात्र का प्रकाशक बनता है, तब समाधि कहलाता है ।

ध्यानावस्था में ध्याता (चित्त ध्यान) चित्त वृत्ति तथा ध्येय (चित्त वृत्ति का विषय) इन तीनों का आभास होता है । अभ्यास की दृढता से ध्येय का स्वभावावेश वश ध्यान का आकार लुप्त हो जाता है, केवल ध्येय के स्वरूप का भान होत होता है, किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि इस अवस्था में ध्यान की सत्ता ही नहीं है क्योंकि ध्येय का प्रकाशक तो ध्यान ही होता है । वस्तुतः समाधि, ध्यान एवं ध्येय की तन्मय अवस्था है। ध्यान की ही चरम उत्कृष्ट सीमा समाधि है ।[1]

1.-योगसारसंग्रह, योगसूत्र-पातंजलि योगसूत्र का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन, गोरक्षसंहिता ।